

शारदीय नवरात्र

बनवारी

अश्विन मास का कृष्णपक्ष पितरों की तृप्ति के लिए है तो शुक्ल पक्ष के पहले नौ दिन शक्ति की पूजा के लिए हैं। वर्ष में दो बार आश्विन और चैत्र के शुक्ल पक्ष में नवरात्र संपन्न होते हैं और दोनों के अंत में भगवान राम हैं। शारदीय नवरात्र के बाद विजयदशमी है जो अनीति के प्रतीक रावण पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम की विजय का दिवस होने के कारण परम् शुभ माना जाता है। शक्ति की पूजा करने वाला भारतीय समाज उसकी पूर्णता मर्यादा में ही देखता है, इसलिए नवरात्र के संपन्न होते ही भगवान राम से जुड़े उत्सव हैं। नवरात्र अपने आप में भगवती को प्रसन्न करने के लिए की गई तपस्या है। व्रतपूर्वक की गई इस तपस्या में शक्तिरूपा कन्याओं का पूजन करते हुए भगवती दुर्गा की अर्चना और आह्वान किया जाता है। शक्ति के विभिन्न रूपों को देख और समझकर ही भारत में उसके शुभ और मर्यादित रूप की आकांक्षा की है। दूसरे समाजों की तरह शक्तिमात्र को वरेण्य नहीं माना।

भला जो लोग वर्ष में दो बार नवरात्र की व्यवस्था करके शक्ति को अपनी साधना में अग्रणी भूमिका देते रहे हों, अपनी सभ्यता का तानाबाना खड़ा करते समय वे शक्ति के महत्व को कैसे भुला सकते हैं? फिर भी पिछले सौ-सवा सौ वर्ष से यह कथन बार बार दोहराया जाता रहा है कि हमारी सभ्यता में अध्यात्म तो बहुत है मगर शक्ति की कमी है। इस सिलसिले में स्वामी विवेकानंद का एक वाक्य तो प्रसिद्ध ही है। उन्होंने कहा है कि भारत को हिन्दुओं की आत्मा और मुसलमानों का शरीर चाहिए। उनकी इस टिप्पणी से यही ध्वनित होता है कि वे इस्लाम की उग्रता से प्रभावित थे। उन्हें लगता था कि व्यावहारिक जीवन में उन्नयन के लिए और काल की उथल-पुथल को झेलने के लिए हिंदुओं का अध्यात्म तो चाहिए ही इस्लाम की ताकत भी चाहिए। उनके बाद के लोगों ने इस्लाम की बजाए ईसाईयत या ईसाई और यूनानी अवधारणाओं के मेल से बनी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता में ताकत देखी और यह कहना शुरू कर दिया कि पूर्व और पश्चिम का सम्मिलन करवाया जाना चाहिए। पूर्व पश्चिम को अध्यात्म दे सकता है और पश्चिम से पूर्व को विज्ञान और प्रौद्योगिकी के माध्यम से प्रकट होने वाली शक्ति ग्रहण कर लेनी चाहिए।

शक्ति की इस खोज में हमने विज्ञान के अविष्कारों और बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाली प्रौद्योगिकी को जानने की कोशिश की। यूरोपीय सभ्यता की संस्थाओं और विचारों को भी उसके साथ ही ज्यों का त्यों अपने यहां थोपना शुरू कर दिया। पूर्व और पश्चिम का मेल करने का नारा तो वैसे ही थोथा था। जिन लोगों ने यह नारा लगाया था उनमें न पूर्व की ठीक से समझ थी और न पश्चिम सभ्यता के ही स्वरूप का वास्तविक ज्ञान था। मगर पूर्व और पश्चिम का मुरब्बा बनाने की ललक ने उनको दोहरा जीवन जीने का बहाना दे दिया। अपने निजी जीवन में वे अपने संस्कारों को जड़ कर्मकांड बनाकर ढोए चले जाते हैं और सार्वजनिक जीवन में

ठीक पश्चिमी आदमी की तरह का होने की कोशिश करते हैं। इसका नतीजा यही होता है कि न वे भारतीय रह पाते हैं और न यूरोपीय ही हो पाते हैं।

पिछले इन सौ-सवा सौ साल में हमारे अगुवा लोगों के एक बहुत बड़े वर्ग में यह धारणा फलती फूलती रही है कि हमारी सभ्यता आध्यात्मिक शिखरों पर तो चढ़ी है, मगर भौतिक संपन्नता के शिखर पर नहीं चढ़ पाई, क्योंकि उसने अपने लक्ष्यों को विचारों की शुद्धता और आंतरिक संयम से जोड़ लिया था। आत्म साक्षात्कार और दार्शनिक विश्लेषण में तो उसे बहुत सी उपलब्धियां हुईं, मगर राजनैतिक और सामाजिक जीवन को बेहतर बनाने की दौड़ में भारतीय सभ्यता पिछड़ गई। उसकी इसी कमी के कारण मध्यकाल में आते आते उसे विदेशी हमलावरों के आगे पराजय देखनी पड़ी। इसी विदेशी अधीनता से उसे फिर लंबे समय तक मुक्ति नहीं मिल पाई। अगर उसने अध्यात्म के साथ साथ शक्ति संचित करने की तरफ भी उतना ही ध्यान दिया होता तो हर बार मुट्ठी भर विदेशियों के हाथों उसे पराजय नहीं भुगतनी पड़ती।

इस धारणा में इतिहास की अधूरी और अधकचरी समझ है। हमारी राजनैतिक और सैनिक पराजयों में कोई अनोखी बात नहीं है। उसी दौर में दुनिया के और भी समाज विदेशी हमलावरों के सामने घुटने टेकते रहे हैं। किसी ने अपनी राजनैतिक और सैनिक पराजय को जल्दी पोंछ दिया और कुछ को इसमें देर लगी। भारत की अधीनता का किस्सा भी बहुत बढा चढाकर बताया गया है। मुस्लिम और ईसाई हमलावरों ने भारत से कोई बहुत लड़ाईयां नहीं जीती। इस्लाम को मानने वाले लोग तो देश के एक छोटे हिस्से पर ही वास्तव में कब्जा किए हुए थे। अंग्रेजों को उनसे कुछ अधिक सफलता मिली और उसकी वजह यह थी कि एक तो भारत इस्लाम को मानने वाले हमलावरों से लड़ते लड़ते अपनी काफी शक्ति खर्च कर चुका था, दूसरे अंग्रेजों को नई और उभरती हुई यूरोपीय शक्ति का संबल और संरक्षण मिला हुआ था।

भारत की शक्तिहीनता के मिथ को खड़ा करने और बनाए रखने में हमारी सैनिक पराजय की वैसे कोई खास भूमिका नहीं है। यह मिथ तो दुनिया भर के इतिहास को फिर से लिखने की कोशिश में यूरोप के इतिहासकारों और समाजविज्ञानियों ने गढा है। उन्होंने दुनिया में पुराने शिक्षातंत्र को तहस-नहस कर डाला है। इसलिए आज उन्हीं के लिखे हुए साहित्य को विश्वव्यापी मान्यता मिली हुई है और स्कूल-कॉलेजों में यही धारणा रटाई जाती रही है। इस नए शिक्षातंत्र के जरिए लोगों की समझ और मान्यताओं का नए रूप में ढल जाना स्वाभाविक ही था। पिछले दो-ढाई सौ वर्ष में यूरोपीय जातियों ने दुनिया के बड़े हिस्से पर जो राजनैतिक नियंत्रण स्थापित किया उसके खत्म होने के बावजूद उनके बनाए शिक्षातंत्र के कारण दुनिया के इतिहास को यूरोपीय विजेताओं की निगाह से देखने की मजबूरी बनी रही।

कोई भी विजय अपनी शक्ति की चकाचौंध पैदा करती है और उसमें अक्सर हम विजेता की वास्तविक शक्ति को आंक नहीं पाते। किसी भी विजय के अनेक कारण

होते हैं और इसलिए कई बार जीतने वाला कम ताकतवर होने के बावजूद जीत जाता है। किसी भी समाज की शक्ति किसी एक या कुछ लड़ाईयों में हारने से नहीं आंकी जा सकती। मगर हार से पैदा हुई निराशा और जीती हुई जाति की तात्कालिक शक्ति की चकाचौंध इस मामूली से तथ्य को आंख से ओझल कर देती है। फिर इस चकाचौंध के कारण विजेता जाति की कमजोरियां भी उसकी शक्ति नजर आने लगती हैं। यह बात हम आज के शैक्षिक और दूसरे साहित्य में अच्छी तरह देख सकते हैं।

अगर हमने चकाचौंध से मुक्त होकर अपनी सभ्यता के वैचारिक आधार को या व्यावहारिक स्वरूप को जरा सा भी देखने की कोशिश की होती तो हमारी शक्तिहीनता का मिथक तार-तार हो गया होता। हमारे चिंतन में आध्यात्मिक और भौतिक पुरुषार्थ को दो हिस्सों में बांटकर देखने की प्रवृत्ति नहीं रही है। व्यक्तिगत स्तर पर यह हो सकता है कि कुछ लोग आध्यात्मिक पुरुषार्थ में जुटे हों और दूसरे लोग भौतिक पुरुषार्थ में। लेकिन आमतौर पर लोग दोनों ही पुरुषार्थों को साधने की कोशिश करते हैं और उन दोनों को एक साथ साधने को ही धर्म कहा गया है। भारतीय सभ्यता में उस दिव्यता का कोई मतलब नहीं है जो शक्ति का निषेध करे। हमारी सभ्यता में एक भी विचार या एक भी संस्था ऐसी नहीं है जो शक्ति का निषेध तो क्या उसकी उपेक्षा भी करती हुई दिखाई दे। आप दरअसल पाएंगे यह कि सभी संस्थाएं और सभी विचार दोनों को एकसूत्र में पिरोए हुए हैं।

इस तथ्य को उतनी ही अच्छी तरह भारत की सभ्यता को व्यावहारिक स्वरूप में देखा जा सकता है। अपनी राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं की श्रेष्ठता साबित करने के लिए भारत को बहुत परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। खेती और उद्योग में अपनी पैदावार तकनीकों को भारतीय उन्नीसवीं शताब्दी तक दुनिया की श्रेष्ठ तकनीकें सिद्ध कर सकते हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियां दो शताब्दी पहले तक किसी भी और समाज से अधिक रही हैं। साहित्य तक के मामले में हम आसानी से यह दावा कर सकते हैं कि यूरोप के विशाल आधुनिक साहित्य के बावजूद जीवन के मर्म की समझ और उसकी अभिव्यक्ति क्षमता के मामले में भारत का साहित्य बेजोड़ रहा है।

अगर हम दो-ढाई सौ साल की पश्चिमी जातियों की विजय की चकाचौंध से मुक्त हो जाएं तो अपनी सभ्यता की सामयिकता के बारे में हमारे मन में जो शंकाएं उभरती हैं वे भी आसानी से शांत हो सकती हैं। पश्चिमी समाज की संस्थाएं, विचार और तकनीकें आज इसलिए प्रभावशाली दिखाई देती हैं क्योंकि अपनी विश्वव्यापी गतिशीलता के कारण वे उनमें जान डालती रहती हैं। जिस दिन भारत और दुनिया के दूसरे बड़े समाज अपने स्वभाव और संस्कार की तरफ दौड़ते हुए पश्चिमी समाज की गतिशीलता में बाधा खड़ी कर देंगे, उनकी संस्थाओं, विचारों और तकनीकों के आंतरिक खोट प्रकट होने लगेंगे। उनके शक्तिशाली होने का मिथक टूट जाएगा और उनकी कार्यकुशलता की पोल खुल जाएगी।